ओशो : हाशिए पर मुखपृष्ठ

राजेश कुमार चौरसिया
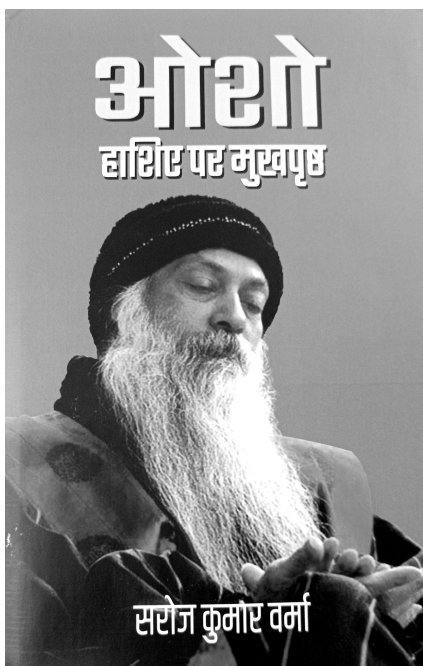
ओशो : हाशिए पर मुखपृष्ठ (2022)

सरोज कुमार वर्मा

पृष्ठ : 148.

मूल्य : ₹ 499.

अनुज्ञा बुक्स, नई दिल्ली.

इस पुस्तक में ओशो रजनीश के दर्शन को तीन खंडों एवं नौ अध्यायों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है : स्थापना खंड, अवधारणा खंड और तुलना खंड। इन तीन खंडों में रजनीश को हाशिए के अनंतर मुख्यधारा का दार्शनिक प्रमाणित करने की कोशिश की गई है। साढ़े छह सौ से भी अधिक किताबों में संकलित रजनीश के प्रवचनों में से आज के समय के हिसाब से कोई दार्शनिक सूत्र खोज पाना आसान काम नहीं है। ऐसा करने का संकल्प करना भी सराहनीय है, पुस्तक के लेखक ने ऐसा किया इसके लिए उन्हें बधाई। जितना मुश्किल काम रजनीश के प्रवचनों से दार्शनिक सूत्र संकलित करना है, उतना ही मुश्किल उस काम का मूल्यांकन करना भी है। लेकिन प्रथमतः यदि हम उन कसौटियों की बात लें जिनके आधार पर एक व्यक्ति को दार्शनिक कहा जाता है, तो शायद यह काम आसान हो जाए। इस संबंध में पहली बात समझ लेनी आवश्यक है कि ओशो रजनीश को

न्याय, सांख्य अथवा वेदांत के समान परंपरागत अर्थों में एक दार्शनिक नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उन्होंने इस प्रकार के किसी भी दार्शनिक निकाय अथवा उपनिकाय को जन्म नहीं दिया है। न केवल ओशो रजनीश बल्कि अन्य किसी भी समकालीन भारतीय दार्शनिक को परंपरागत कसौटी पर दार्शनिक नहीं कहा जा सकता है। न ही ओशो रजनीश वैदिक (आस्तिक) दर्शनों की भाँति वेदों के प्रामाण्य को मानकर किसी स्वतंत्र दार्शनिक व्यवस्था को जन्म दे रहे हैं, और न ही अवैदिक (नास्तिक)[1] दर्शनों की भाँति वेदों के अप्रामाण्य को स्थापित कर किसी स्वतंत्र दार्शनिक व्यवस्था को जन्म दे रहे हैं।

1.

किताब के स्थापना खंड का प्रथम अध्याय है – ओशो : व्यापक सरोकार के दार्शनिक। दर्शन का व्यापक होना, ये तो दर्शन मात्र का ही लक्षण है। यशदेव शल्य मानते हैं कि एक दर्शन तभी पूर्ण दर्शन कहलाने का अधिकारी है जब वह वैज्ञानिक/सैद्धांतिक, ऐषणात्मक एवं आध्यात्मिक सभी दृष्टियों का समन्वय करता हो। हम प्रस्तुत किताब के आधार पर इस समस्या पर विचार करेंगे कि क्या ओशो रजनीश का दर्शन एक पूर्ण दर्शन कहलाने का अधिकारी है? प्रो. वर्मा ने इस अध्याय में ओशो को एक दार्शनिक के रूप में स्थापित न हो पाने के निम्नांकित कारणों की बात की है :

- वे एक मौलिक दार्शनिक नहीं हैं क्योंकि उनके वाङ्मय में कुछ नया नहीं है।[2]
- ओशो का सैद्धांतिक नहीं होना और उनके द्वारा प्रस्तुत विचारों में असंगति का आभास होना।[3]
- उनका विवादास्पद होना।[4]

लेखक ने उपर्युक्त आपत्तियों का निराकरण करते हुए ओशो को एक दार्शनिक के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है। पहली आपत्ति सही नहीं है क्योंकि एक दार्शनिक होने के लिए भारत में नए सत्य की स्थापना ज़रूरी नहीं है। यहाँ सत्य को देश और काल के परे माना जाता है और वह सत्य केवल सत्य होता है; उसके लिए नया-पुराना, मौलिक-अमौलिक आदि अवधारणाओं का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि 'सत्य' समस्त अवधारणाओं के पहले है। यह द्वितीय आपत्ति ही मेरी दृष्टि में ओशो को एक दार्शनिक के रूप में स्थापित कराने में सबसे बड़ी बाधा है। ओशो के दर्शन में न ही कोई तत्त्वमूलक सैद्धांतिक संगतता है और न ही अभिव्यक्तिमूलक विचार संगति।

श्री कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि बुद्ध और वेदांत के

[1] भारतीय दर्शन को मोटे तौर पर आस्तिक और नास्तिक भागों में बाँटा जाता है; जिनमें सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, वेदांत-मीमांसा; इनको आस्तिक दर्शन कहा जाता है क्योंकि ये वेदों के प्रामाण्य को मानते हैं चार्वाक, जैन, और बौद्ध दर्शनों को नास्तिक दर्शन कहा जाता है क्योंकि ये वेदों के प्रामाण्य को नहीं मानते हैं.

[2] सरोज कुमार वर्मा, *ओशो : हाशिए पर मुखपृष्ठ* : 16-17.

[3] वही : 21-22.

[4] वही : 23-24.

निरपेक्ष सत्य भिन्न क्यों प्रतीत होते हैं। निरपेक्ष सत्य तो एक ही होना चाहिए। उन्होंने पाया कि एक ही निरपेक्ष सत्य के भिन्न-भिन्न प्रतीत होने का कारण है उसकी अभिव्यक्ति की मूलभूत अभिवृत्ति। एक व्यक्ति सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए प्रधानतः तीन प्रकार की अभिवृत्तियों में से कोई एक अभिवृत्ति अपना सकता है। अगर एक व्यक्ति मन की ज्ञानात्मक अभिवृत्ति को अपनाता है तो उसका दर्शन अद्वैत वेदांत की तरह अभिव्यक्त होगा। वहाँ ज्ञान में जो वास्तविक वस्तु 'है' (ब्रह्म, आत्मा आदि) उसे केवल जानना है। यहाँ वास्तविक वस्तु जो 'है' (विषय) को प्रदर्शित होना है इसलिए यहाँ 'विषयी' 'विषय' से निर्धारित है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति सत्य को अभिव्यक्त करने के लिए संकल्पात्मक अभिवृत्ति को चुनता है तो उसका दर्शन शून्यवाद की भाँति विकसित होगा। यहाँ अवस्तु, जो 'नहीं है' से स्वतंत्र या शून्य हो जाना है। यहाँ अवस्तु, जो नहीं है से क्रियापूर्वक विषयी को स्वतंत्र होना है। यहाँ वस्तु/विषय नहीं बल्कि विषयी महत्त्वपूर्ण है। प्रथम में वस्तु/विषय का प्रभुत्व है। द्वितीय में वस्तु तो अशुद्ध है और विषयी का प्रभुत्व है। मन की तीसरी अभिवृत्ति में विषय एवं विषयी एक दूसरे के पूरक होते हैं। किसी का भी प्रभुत्व नहीं होता है।[5] इस अभिवृत्ति के उदाहरण के रूप में श्री भट्टाचार्य ने हेगेल के दर्शन का उल्लेख किया है और बाद में प्रो अशोक कुमार चटर्जी ने अपने एक लेख में चैतन्य महाप्रभु की 'भक्ति' का उल्लेख किया है।[6] एक दार्शनिक जब अपने सत्य को अभिव्यक्त करता है तो उपरोक्त तीन मन की अभिवृत्तियों में से एक को चुनता ही है ताकि इसको सुनने अथवा पढ़ने वाला सैद्धांतिक रूप से इसे समझ सके। एक दर्शन में सैद्धांतिक स्पष्टता सर्वोपरि है इसीलिए एक प्रज्ञा संपन्न व्यक्ति सत्य की अभिव्यक्ति के लिए एक मार्ग, मन की एक अभिवृत्ति का चयन करता ही है ताकि उसका श्रोता सैद्धांतिक रूप से भ्रमित न हो। यह सब ठीक उसी प्रकार से है जैसे कि एक गायक जब किसी राग का चयन कर लेता है तो उस राग के आरोह-अवरोह से बँधने में ही उस गायक की कुशलता का पता चलता है। यदि वह ऐसा नहीं कर पाता है तो संगीत के अनंतर शोर उत्पन्न होगा। ओशो रजनीश के वाङ्मय को जब कोई गंभीर पाठक पढ़ता है तो उसे इसी प्रकार का शोर सुनाई देता है।

ओशो रजनीश ने कई बार कहा है कि उन्हें विवादास्पद होना पसंद है और वे चाहते हैं कि कोई उन्हें पसंद करे (प्रशंसा करे) अथवा नापसंद (निंदा करे) करे लेकिन वे नहीं चाहते कि कोई उनकी उपेक्षा करे।[7] लेकिन किसी भी प्रकार के विचार के लिए ये केवल तीन ही प्रकार के कर्म नहीं होते। एक

---

[5] देखें, के.सी. भट्टाचार्य (1958), *स्टडीज़ इन फ़िलॉस्फी*, वॉल्यूम II, एडिटिड बाई गोपीनाथ भट्टाचार्य, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स 37, कॉलेज स्ट्रीट, कलकत्ता-12 : 115-117.

[6] देखें, ए.के. चेटर्जी, *टाइप्स ऑफ़ ऐब्सूल्यूटिज़म : ए रिविजिटेशन*, ऐन इंटरनैशनल कॉन्फ्रेंस टू मार्क द बर्थ सेंचुरी इयर ऑफ़ प्रोफ़ेसर टी.ई.वी. मूर्ति, 18-21, दिसंबर 2002, ऐट जन प्रवाह, वाराणसी.

[7] देखें, ओशो रजनीश (1986), द *लास्ट टेस्टामेंट*, वॉल्यूम I, चैप्टर 18, रजनीश फाउंडेशन इंटरनैशनल : 335.

दार्शनिक कर्म किसी भी प्रशंसा अथवा निंदा के पार होता है। यहाँ कोई व्यक्ति नहीं बल्कि स्वयं सत्य साध्य होता है। रजनीश को समझने के लिए एक बड़ी मुश्किल यह भी है कि या तो हम उनको एक प्रशंसक/भक्त की तरह समझना चाहते हैं अथवा एक उनके विरोधी की भाँति। ये दोनों ही तरीक़े जिस 'विचार' को समझना चाहते हैं उस विचार की वास्तविक वस्तु से हमें दूर कर देते हैं। जब मैं यह समीक्षा-निबंध लिख रहा हूँ तो न ही मैं ओशो रजनीश का समर्थक हूँ और न ही उनका विरोधी।

किताब के द्वितीय अध्याय (अद्वैत परंपरा में ओशो) में लेखक ने दावा किया है कि ओशो रजनीश को अद्वैत परंपरा का एक दार्शनिक ठहराया जा सकता है, जो ठीक नहीं है। इसका पहला कारण यह है कि स्वयं ओशो इस बात को स्वीकार नहीं करेंगे। लेखक ने पुस्तक में इस बात को उद्धृत भी किया है।[8] दूसरा कारण जो सबसे महत्त्वपूर्ण है, कि ओशो के प्रतिपादन में अद्वैत वेदांत के समान कोई दार्शनिक व्यवस्था नहीं है। लेखक इस बात से भली भाँति परिचित है कि अद्वैत वेदांत की एक व्यवस्थित और सूक्ष्म तत्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा है, और ओशो के प्रतिपादन में इस प्रकार की व्यवस्थित मीमांसा का अभाव है।

लेखक की प्रस्तुति से ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वे ये मान रहे हैं कि जो प्रतिपादन शंकर ने अपने अद्वैत वेदांत में किया वही प्रतिपादन ओशो का भी है, भिन्नता केवल पदावली की है। लेकिन लेखक ने ओशो के जिन उद्धरणों के आधार पर उन्हें अद्वैतवाद का दार्शनिक प्रतिपादित करने की कोशिश की है यदि उनकी परीक्षा की जाए तो इस प्रतिपादन की असफलता स्पष्ट हो जाएगी। उदाहरण के लिए किताब में प्रस्तुत ओशो के प्रथम उद्धरण को ही ले लीजिये जिसमें परमात्मा और प्रकृति की एकता के आधार पर अद्वैत का प्रतिपादन किया गया है।[9] दर्शन के विद्यार्थी जानते हैं कि इस प्रकार से परमात्मा और प्रकृति की एकता को स्पिनोज़ा के दर्शन में सर्वेश्वरवाद कहा जाता है।[10] दरअसल अद्वैतवाद का सिद्धांत एक विकसित माया की अवधारणा पर आधारित है, यही शंकराचार्य का उनके भाष्यों में मौलिक दार्शनिक अवदान है। ओशो रजनीश और कोई समकालीन नव्यवेदांती, शंकर के उस माया/अज्ञान के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करेगा जिसमें संसार के मिथ्यात्व की घोषणा की गई है। ओशो रजनीश के लिए तो यह सिद्धांत बिलकुल भी स्वीकृत नहीं हो सकता क्योंकि कुछ एक-दो अपवादों को छोड़ कर ओशो की देशनाओं में, उनकी व्याख्याओं में नयापन यही है कि वे परमात्मा के पक्ष में संसार को त्याज्य मानने के पक्ष में नहीं हैं और शंकर के ग्रंथों में तो बारंबार ब्रह्म के पक्ष में मिथ्या सांसारिक सुखों को त्याज्य बताया

---

[8] सरोज कुमार वर्मा, *ओशो : हाशिए पर मुखपृष्ठ* : 41.

[9] वहीं : 26.

[10] *पैंथीज़म : गॉड इज़ नेचर ऐंड नेचर इज़ गॉड.*

गया है। अतः मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस किताब में ओशो रजनीश को अद्वैतवाद की परंपरा का दार्शनिक बताया जाना एक बड़ी भूल है।

उपर्युक्त तर्कों से स्पष्ट है कि यह स्थापना ठीक नहीं है ओशो अद्वैत परंपरा के एक दार्शनिक हैं। बल्कि यह स्थापना उनके द्वारा किए गए काम के एकदम विपरीत है। कांट ने अपने एक वक्तव्य में, दो चकित करने वाले अनंतों की चर्चा की है – 'एक मनुष्य के ऊपर सितारों से भरा स्वर्ग और दूसरा मनुष्य के अंदर का नैतिक नियम।' टी. आर. वी. मूर्ति कहते हैं कि यहाँ सितारों से भरे स्वर्ग का तात्पर्य इस भौतिक प्रकृति से नहीं है बल्कि यहाँ इसका तात्पर्य – विश्व के रचयिता से है।[11] मनुष्य की दार्शनिक चेतना के ये दो रूप हैं, जिनमें प्रथम का प्रतिनिधि वेदांत (वैदिक दर्शन) है एवं दूसरे का प्रतिनिधि बौद्ध-दर्शन (अवैदिक दर्शन) है। एक का प्रारंभ ही किसी दैवीय-प्रकाशन[12] से होता है और इसीलिए अपौरुषेय है। दूसरे का जन्म पूरी तरह से पौरुषेय है। इसीलिए एक को समझने के लिए दैवीय-प्रकाशन पर आस्था की आवश्यकता है और दूसरा मनुष्य के विमर्श का विषय है। यदि दार्शनिक चेतना के इन दो मूलभूत आयामों में से ओशो के विचारों को किसी एक वर्ग में रखना हो तो उनके विचार को पौरुषेय वर्ग में ही रखना उपयुक्त होगा।

ओशो रजनीश के साहित्य को जब हम पढ़ते हैं और इस साहित्य में से जब कोई उनकी स्वयं की विशिष्ट बातें निकालने का प्रयत्न करते हैं तो बड़ी समस्या यह आती है की अनेक मुखौटों से युक्त उनके प्रवचनों में से किस मुखौटे को उनका अपना निजी चेहरा बताया जाए। उदाहरण के लिए योग और तंत्र एक दूसरे के विपरीत मार्ग हैं, एक दूसरे के विपरीत सिद्धांत हैं; दोनों ही प्रवचन शृंखलाओं में एक सावधान श्रोता/पाठक को ओशो रजनीश के अलग-अलग रूप दिखाई देते हैं तब यहाँ यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि उनका अपना असली चेहरा क्या है?

मैंने 2012 में ओशो रजनीश पर प्रकाशित अपने एक शोध-पत्र में इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास किया था।[13] अगर ध्यानपूर्वक ओशो के समस्त वाङ्मय का सिंहावलोकन किया जाए तो प्रमुख रूप से उनके साहित्य को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है : प्रथम, मौन के पहले का ओशो साहित्य और द्वितीय मौन के बाद का ओशो साहित्य। ओशो रजनीश ने ऑरेगॉन अमरीका में एक हज़ार तीन सौ पंद्रह दिनों का (क़रीब साढ़े तीन साल का) मौन व्रत रखा था। इस लंबे अरसे के मौन के बाद उन्होंने अपने क़रीबी संन्यासियों के समक्ष

---

[11] देखें, टी.आर.वी. मूर्ति (1983), स्टडीज़ इन थॉट एडिटेड बाई हेरॉल्ड जी. कोवार्ड, एमएलबीडी, नई दिल्ली : 200.

[12] उदाहरण के लिए वैदिक श्रुतियाँ दैवीय प्रकाशन हैं और यह श्रुतियाँ मनुष्य के तर्क-वितर्क के परे हैं. तर्क-वितर्क के द्वारा इनके अर्थ का विस्तारण तो किया जा सकता है, लेकिन इनके सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता है. जो भी इनकी प्रामाणिकता पर सवाल उठाएगा वह बुद्ध, महावीर की ही तरह नास्तिक/अवैदिक कहलाएगा.

[13] राजेश कुमार चौरसिया, ओशो के दर्शन का वैशिष्ट्य, दर्शन के आयाम, न्यू भारतीय बुक कॉरपॉरेशन, प्रकाशदीप भवन, अंसारी रोड, दरियागंज, 2012, नई दिल्ली : 449-457.

अपना संदेश, अपनी बातों को परिष्कृत रूप में रखने का प्रयास किया। उनकी मौन के उपरांत की यह प्रथम प्रवचन माला, जो किताब के रूप में *फ्रॉम अनकॉन्शस टू कॉन्शसनेस*[14] शीर्षक से प्रकाशित है, उनके दर्शन को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी है। इस प्रवचन शृंखला के प्रारंभ में ही वे कहते हैं कि अभी तक मैंने जिन लोगों के माध्यम से अपनी बात रखी, मैं उनसे पूरी तरह सहमत नहीं था लेकिन मैंने उस समय अपनी असहमति को अभिव्यक्त नहीं किया क्योंकि लोग मुझे नहीं उस व्यक्ति अथवा ग्रंथ को समझने आते थे जिस पर मैं बोल रहा होता था। अगर मैं उस समय उन लोगों के सामने कृष्ण, बुद्ध, अथवा महावीर आदि से अपनी असहमतियाँ व्यक्त कर देता तो लोगों का सम्मोहन टूट जाता। ओशो के अनुसार उन्होंने लाओत्से, बुद्ध आदि के माध्यम से ऐसी-ऐसी बातें कही हैं जो इन लोगों ने सपने में भी नहीं सोची होंगी।[15] इसी पुस्तक के एक अन्य अध्याय में जब उनसे इन्हीं चुने हुए संन्यासियों में से कोई कोई उनसे उनके 10 कमॉन्डमेंट के बारे में पूछता है तो वे बताते हैं कि कमॉन्डमेंट शब्द उनकी देशना के अनुकूल नहीं हैं मैं आपसे कुछ अनुरोध कर सकता हूँ और पहला ही अनुरोध वे करते हैं – 'संदेह'। उनके अनुसार विश्वास एक ज़हर है और संदेह एक मूल्यवान वस्तु अतः अपने संदेह को कभी न मरने दें।[16] ओशो रजनीश का यह मूलभूत अनुरोध उन्हें वेदांत की ज्ञान और भक्ति दोनों ही प्रकार के सभी संप्रदायों से अलग कर देता है। 'संदेह' भक्ति की अपेक्षा ज्ञान के क़रीब दिखाई देता है लेकिन वेदांत में 'श्रुति' संदेह का नहीं श्रद्धा का विषय है। हमें जीवन के बारे में प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए जीवन के प्रत्येक विषय पर तार्किक संदेह करना चाहिए। लेखक ने श्रमपूर्वक ओशो को अद्वैत वेदांत की परंपरा का दार्शनिक ठहराने की कोशिश में दोनों के मूलभूत अवधारणाओं की तुलना करने का प्रयत्न किया है, यथा व्यावहारिक और पारमार्थिक जगत का भेद, ज्ञान और कर्म का भेद, जीव और ब्रह्म की एकता इत्यादि। लेकिन इन संप्रत्ययों में जो दोनों में समानता दिखाई दे रही है वह सतही है, अगर सभी का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो दोनों की अवधारणाओं में भेद देखा जा सकता है।

इसी किताब के स्थापना खंड के ही तृतीय अध्याय का नाम है – 'हिंदी भाषा में ओशो का दार्शनिक चिंतन'। इस अध्याय को पढ़ के सबसे पहले तो यही सवाल मन में उठता है कि इस अध्याय का नामकरण इस प्रकार से क्यों किया गया है? क्या इसमें जिन दार्शनिक बातों की चर्चा की गई है उन दार्शनिक बातों का ओशो के अंग्रेज़ी के वाङ्मय में अभाव है? अथवा, अगर हम उनके दोनों भाषाओं के साहित्य का पुनरावलोकन करें तो प्रश्न उठता है कि क्या दोनों भाषाओं

[14] ओशो रजनीश (1985), *फ्रॉम अनकॉन्शसनेस टू कॉन्सियसनेस*, रीबेल बुक्स पब्लिकेशन, कोरेगाँव पार्क, पुणे 470012.

[15] वही : 06.

[16] वही : 366.

के उनके प्रतिपादन में कोई मूलभूत भेद है? इस अध्याय को पढ़ कर ऐसा ध्वनित होता है कि लेखक इस अध्याय में मुख्य रूप से ओशो रजनीश के हिंदी भाषा में उपलब्ध साहित्य के आधार पर दो प्रश्नों का उत्तर तलाशने की कोशिश कर रहे हैं। (1) रजनीश की हिंदी भाषा की विशेषताओं को बताना, और (2) इस बात की समीक्षा करना कि उनके द्वारा दिए गए हिंदी के प्रवचनों को स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के अंतर्गत रखा जा सकता है अथवा नहीं?

प्रथम प्रश्न के विवेचन में लेखक ओशो रजनीश की हिंदी भाषा की निम्नांकित विशेषताओं को बतलाते हैं :

- उनकी हिंदी भाषा तर्क और भाव दोनों को सम्यक स्थान देती है।[17]
- उनकी हिंदी भाषा में संप्रेषणीयता भी है और अभिव्यंजना भी।[18]
- उनकी भाषा सहज और सरल है।[19]

स्थापना खंड में इस अध्याय का प्रयोजन भी ओशो को एक दार्शनिक के रूप में स्थापित कराना है। प्रो. संगम लाल पांडेय ने स्वातंत्र्योत्तर भारतीय दर्शन के अभिव्यक्ति की भाषा को 'हिंदी' बनाए जाने की अनुशंसा की है क्यों कि परंपरागत भारतीय दर्शन की भाषा संस्कृत है और हिंदी संस्कृत के क़रीब है। निःसंदेह ओशो की भाषा के बारे में लेखक ने जो उपर्युक्त बातें कही हैं वे सतही तौर पर अथवा चीज़ों को दार्शनिक-चेतना के धरातल पर यदि न देखा जाए तो सत्य प्रतीत होती हैं। लेकिन यदि थोड़ा भी गहराई से विचार किया जाए तो प्रश्न उठेगा कि एक दार्शनिक भाषा में भाव-प्रवणता का क्या तात्पर्य है। और क्या इस तरह की भाव-प्रवणता क्या सत्य को संप्रेषित कर सकती है? लेखक के अनुसार तर्क केवल एक रहस्यमय भाव तक पहुँचाने की एक सीढ़ी मात्र है। यहाँ यह तर्क और भाव का भेद भी अविद्याजनक है। इस संदर्भ में जे. कृष्णमूर्ति का मत अधिक संगत प्रतीत होता है। जे. कृष्णमूर्ति कहते हैं कि प्रज्ञा[20] और प्रेम[21] में कोई भेद नहीं है, वह एक ही है। ऐसी प्रज्ञा जिसमे प्रेम का अभाव है, प्रज्ञा नहीं है; इसी प्रकार ऐसा प्रेम जिसमें प्रज्ञा नहीं है प्रेम नहीं है। तर्क को छोड़ कर किसी रहस्यमय भाव में यू-टर्न लेने की आवश्यकता नहीं है। जब तर्क अथवा विचार की पृष्ठभूमि सत्य/प्रज्ञा होती है तो विचार बुद्धि भी सीधे-सीधे सत्योन्मुख हो जाती है। ऐसी विचार बुद्धि भटक जाती है जिसके पीछे सत्य न खड़ा हो। जिस अभिव्यंजना और संप्रेषणीयता की बात लेखक कर रहे हैं, उसका संतुलन दर्शन में किसी बात के सत्य पर प्रतिष्ठित होने पर ही संभव है। अगर कोई बात सत्य पर प्रतिष्ठित

[17] देखिये, *ओशो : हाशिए पर मुखपृष्ठ* : 44-45.

[18] वहीं : 45.

[19] वहीं : 18-19 और 44.

[20] इंटेलीजेंस.

[21] लव.

नहीं है तो ऐसी अभिव्यंजना सत्य के अनंतर कुछ और संप्रेषित कर देगी। यशदेव शल्य[22] संस्कृत के तीन कवियों की स्तुति में कहे गए इस श्लोक को उद्धृत करके इस बात को ठीक प्रकार से कह पाते हैं :

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थ गौरवं,
दण्डिनः पद-लालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणाः।

शल्य जी का मानना है कि उपर्युक्त तीनों गुण आत्मा अथवा सत्य[23] के सान्निध्य में ही काव्य गुण कहलाने के अधिकारी हैं। किताब के लेखक ने ओशो की दर्शन की अभिव्यक्ति को सहज और सरल कई बार कहा है। यह बात सही भी है इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता है। लेकिन यहाँ प्रश्न यह है कि ओशो की वह भाषा जो सहज और सरल है वह सत्य को कितना अभिव्यक्त कर पाती है? यशदेव शल्य ने कहा है कि 'दर्शन और विज्ञान की विकल्प-सृष्टि जितनी जटिल और अमूर्त होती है उतनी ही वह तथ्य के प्रति सम्यक होती है... यद्यपि यह वस्तु-सार या तत्त्व अपने स्वरूप में सरल ही होता है किंतु इसका व्यंजक रूपक इसकी व्यापकता के अनुपात में ही जटिल होता है।'[24] यह युक्ति एकदम स्पष्ट है कि दर्शन और विज्ञान दोनों को ही जब हम भाषाई विकल्पों में अभिव्यक्त करते हैं तो जितनी यह विकल्प संरचना जटिल होती है उतनी ही वह उसके तथ्य के अनुरूप होती है। उदाहरण के लिए आईन्स्टीन के सापेक्षता के सिद्धांत की विकल्प संरचना जटिल और अमूर्त है इसीलिए वह उसके तथ्य के अनुरूप है। अगर कोई व्यक्ति इसे सरल भाषा में समझने की कोशिश करेगा तो उसकी अभिव्यक्ति की यह सरलता कहीं न कहीं उसके तथ्य से समझौता करेगी। वेदांत अथवा बौद्ध-दर्शन के तथ्यों को जब यथातथ्य अभिव्यक्त करने का प्रयास किया जाता है तो ग्रंथ रचना जटिल हो जाती है अनेक बौद्ध और वेदांत दर्शन के ग्रंथों को इस बात के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। अतः हमें ओशो दर्शन के संदर्भ में भी यह प्रश्न उठाना चाहिए कि उनके दर्शन की सहजता और सरलता कहीं धार्मिक तथ्य के साथ कोई समझौता तो नहीं है? उनके साहित्य के गंभीर पठन से यह बात स्पष्ट दिखाई देती है कि वे अपने व्याख्या-विधान में एक बिंदु पर पहुँच कर जटिल तथ्य की अभिव्यक्ति की पीड़ा नहीं उठाते हैं बल्कि इस बिंदु पर पहुँच कर इसे वे तर्क-बुद्धि के अनंतर केवल ध्यान-साधना के द्वारा गम्य बताते हैं। प्रोफ़ेसर दयाकृष्ण ने समकालीन दार्शनिकों को प्रचलित-दार्शनिक[25] और

[22] देखिए, यशदेव शल्य, मूल्यतत्त्व-मीमांसा, दर्शन प्रतिष्ठान, पी-51, मधुवन पश्चिम,किसान मार्ग, टोंक रोड, जयपुर-302015, 1994 : 28.

[23] श्री यशदेव शल्य वेदांत परंपरा के दार्शनिक हैं, जहाँ आत्मा और सत्य समानार्थक शब्द हैं.

[24] यशदेव शल्य, मूल्यतत्त्व-मीमांसा : 28.

[25] पॉपुलर फ़िलॉस्फ़र.

अकादमिक-दार्शनिक,[26] इन दो भागों में विभाजित किया है। प्रचलित दार्शनिक का शीर्षक ओशो रजनीश पर एकदम सटीक बैठता है क्योंकि वे वही बातें करते हैं जो आम आदमी समझ सके। इसके विपरीत एक अकादमिक दार्शनिक जन-समूह के लिए नहीं बल्कि दर्शन की गूढ़ बातों को अपने दर्शन-कर्म से स्वयं समझना चाहता है।

लेखक ने इस अध्याय में कुछ समकालीन भारतीय दार्शनिक प्रवृत्तियाँ यथा साम्यवाद, भाषा-विश्लेषण, तथा मूल्यवाद आदि को ओशो के साहित्य में दिखलाने की कोशिश की है लेकिन वे इस कार्य में अच्छी तरह से सफल नहीं हुए हैं। उदाहरण के लिए साम्यवाद की ही प्रवृत्ति की बात करें तो बात तब बनेगी जब कोई श्रमपूर्वक प्रचलित साम्यवाद के विपक्ष में प्रस्तुत की गईं ओशो की युक्तियों को उनकी किताबों *समाजवाद से सावधान* और *देख कबीरा रोया* आदि पुस्तकों से संग्रहीत करे और फिर उन युक्तियों की समीक्षा करे। लेकिन यह किताब न ही साम्यवाद के बारे में ऐसा कर पाती है और न ही मूल्यवाद और भाषा-विश्लेषण के बारे में। यह किताब केवल यह इशारा कर पाती है कि इन क्षेत्रों में ओशो-दर्शन की संभावनाएँ हैं।

ओशो के समस्त वाङ्मय का यदि समीक्षात्मक अवलोकन किया जाए तो उन्हें समझने के लिए कुछ मूलभूत बातें सामने आती हैं। सबसे पहले तो हमारा ध्यान उनकी 'यौन' संबंधी बातों पर जाता है जो ओशो को एक साथ विवादास्पद एवं प्रचलित कर देती हैं। मेरी दृष्टि में ये बातें, मनुष्य के द्वारा, धर्म और सभ्यता के नाम पर, सदियों से अप्राकृतिक रूप से यौन के नाम पर दबाए गए चित्त की क्रिया पर एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया से अधिक और कुछ नहीं है। यह ओशो की वास्तविक देशना (यदि कोई है) पर धूल के गुबार की तरह छाई हुई है। इस बात की अभी और विस्तृत चर्चा हम आगे करेंगे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात पर हमारा ध्यान आकर्षित होता है, वह है – उनका व्याख्या-विधान। इस व्याख्या-विधान की पहली महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे जब किसी प्रचलित धर्म – हिंदू, बौद्ध, जैन, क्रिश्चियन आदि की बात करते हैं तो वे साधारणतः प्रचलित धर्म की तो आलोचना करते हैं लेकिन उसके संस्थापक की आलोचना नहीं करते हैं। उदाहरण के लिए वे प्रचलित जैन-धर्म की आलोचना करते हैं परंतु ऐसा करते समय वे महावीर की आलोचना नहीं करते हैं। ओशो रजनीश के व्याख्या-विधान के अंतर्गत द्वितीय महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे इस भौतिक शरीर और इस भौतिक जगत से संबंधित सभी निषेधात्मक बातों की व्याख्या विधेयात्मक रूप में करते हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई जिन-सूत्र अध्यात्म के पक्ष में शरीर को सताने की बात करता हो तो वे अपनी व्याख्या में सूत्र के निहितार्थ को पलट देते हैं, उसे शरीर के पक्ष में बना देते हैं। व्याख्या-विधान की तृतीय महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे जिस समय जिस बुद्ध-पुरुष पर प्रवचन देते

[26] एकैडमिक फ़िलॉस्फ़र.

हैं उसे ही एकैकाधिदेववाद[27] की तरह अनूठा, मानव जाति के लिए सबसे अधिक हितैषी दार्शनिक बताते हैं। ओशो रजनीश के दर्शन की अंतिम विशेषता यह है कि वे हमें अपने मौन के बाद बताते हैं कि वे पूरी तरह से किसी भी बुद्ध पुरुष से सहमत नहीं हैं और 1984 के बाद के अपने प्रवचनों में बुद्ध, महावीर, जीसस आदि सबकी आलोचना करते हैं। अब वे ये भी कहने लगे हैं कि उनके प्रवचनों का मूल उद्देश्य है सुनाने वाले को भ्रमित कर देना ताकि उसकी बुद्धि से आस्था समाप्त हो जाए।[28]

मेरे अनुसार यही बात ओशो रजनीश को एक दार्शनिक रूप में स्थापित कराने के लिए सबसे अधिक नकारात्मक है। वे बारंबार अपने सहस्रों प्रवचनों में बता रहे हैं कि बुद्धि अथवा शब्द केवल भ्रम उत्पन्न करते हैं और 'सत्य' का पता केवल ध्यान से ही लगाया जा सकता है। 'ध्यान' तक बग़ैर तर्क और बुद्धि के एक अकल्याणकारी वस्तु में परिवर्तित हो सकता है। बुद्ध ने ऐसा होते देखा होगा तभी उन्होंने 'सम्मासती' और 'सम्मासमाधि' की बात की है। परंपरागत चित्त को प्रश्न उठाना चाहिए कि क्या समाधि/संसिद्धि भी सम्यक् अथवा असम्यक् हो सकती है? बुद्ध के अनुसार हो सकती है। सत्य 'सम' में अथवा मध्य में होता है किसी भी असजगता में अथवा अति में अहंकार और अज्ञान होता है। और सम रहने के लिए मध्य में रहने के लिए हमेशा विचार-विमर्श की आवश्यकता होती है। अगर किसी ऐसी वस्तु जैसे 'एकाग्रता' को कोई ध्यान समझ रहा है तो इस बात का पता तो विचार-विमर्श से ही चलेगा कि क्या ध्यान नहीं है। अतः 'ध्यान' तक बग़ैर तर्क और बुद्धि के एक अकल्याणकारी वस्तु में परिवर्तित हो सकता है।

अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि ओशो रजनीश को एक दार्शनिक के रूप में स्थापित कराने में उनका विवादास्पद होना बाधक नहीं है। और अगर उनके वाङ्मय में किसी भी नवीन स्थापना को यदि न खोजा जा सके तो यह बात भी उनको दार्शनिक के रूप में स्थापित कराने में बाधक नहीं है क्योंकि ऐसे अनेक प्राचीन और समकालीन भारतीय दार्शनिक हैं जो किसी नवीनता का दावा नहीं करते लेकिन दार्शनिक कहलाते हैं जैसे शंकर और के. सी. भट्टाचार्य आदि। बस एक ही बात बाधक है – उनकी बुद्धि और विवेक पर आस्था का न होना।

ओशो के भक्त मानते हैं कि वे एक संसिद्धि अथवा बुद्धत्व को उपलब्ध व्यक्ति हैं अतः उनके शब्द भक्तों के लिए संदेहातीत है। भक्त प्रश्न नहीं उठाते, तार्किक संदेह नहीं कर पाते कि 'सत्य' कोई उपलब्ध हो जाने वाली विषयवस्तु है भी अथवा नहीं? तार्किक

[27] मैक्समुलर के अनुसार वैदिक बहुदेववाद (पॉलीथीज़म) का विकास, एकैकाधिदेववाद (हिनोथीज़म) की अवधारणा से गुज़रते हुए एकतत्त्ववाद (मॉनिज़म) में हुआ. एकैकाधिदेववाद के अनुसार वैदिक आर्य जब किसी देवता की स्तुति करते थे तो उस समय उस देवता को ही सर्वोच्च देवता मान लेते थे.

[28] देखें, ओशो रजनीश (2016), *फ़्रॉम द फ़ॉल्स टू द ट्रूथ पब्लिक ओशो इंटरनैशनल फ़ाउंडेशन*, इंडिया : 106-108.

संदेह और प्रश्न उठाने से दर्शन का जन्म होता है। कोई ओशो का समर्थक प्रश्न उठा सकता है कि भारत में पहले भी उपनिषद्, बुद्ध अथवा महावीर के वचनों के आधार पर जब दर्शनों की स्थापनाएँ हो सकती हैं तो ओशो रजनीश के वचनों के आधार पर किसी नवीन दर्शन की स्थापना क्यों नहीं हो सकती? यह बात इसलिए असंभव है क्योंकि उपनिषद् अथवा बुद्ध के वचनों के समान रजनीश के वचनों को एक सूत्र में पिरोना, फिर उस सूत्र में से एक 'तत्त्व' अथवा 'अतत्त्व' की ज्ञान मीमांसा विकसित करना संभव नहीं है।

2.

किताब का दूसरा खंड है – 'अवधारणा खंड'। इस अवधारणा खंड में चार अध्याय हैं। जिसमें से प्रथम अध्याय है – 'ज़ोरबा दि बुद्धा : ओशो की मुकम्मल मनुष्य की अवधारणा'। समकालीन भारतीय-दर्शन की यह प्रमुख विशेषता है कि यहाँ कोई भी दार्शनिक जैसे – महात्मा गांधी, रबींद्रनाथ टैगोर, विवेकानंद आदि सभी दार्शनिक इस भौतिक जगत को सत्य मानते हैं और अपनी-अपनी दार्शनिक व्यवस्था के अंतर्गत इसके लिए तर्क उपस्थित करते हैं। ओशो रजनीश ने भी ऐसा ही किया, और बड़े पैमाने पर किया। ओशो के दर्शन की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उन्होंने कभी भी अध्यात्म के पक्ष में इस भौतिक जगत का निषेध नहीं किया है। यहाँ भारत में वेदांत-दर्शन भी कभी जगत को मिथ्या कह कर उसकी उपेक्षा नहीं करता है। *तैत्तिरीय उपनिषद्* तो इस भौतिक जगत को 'सुकृत' कहता है, यहाँ जगत आनंद के लिए आनंद की ही सृष्टि है। वैदिक धर्म की आश्रम व्यवस्था, पुरुषार्थ व्यवस्था और ऋण व्यवस्था आदि इस बात के प्रमाण हैं कि यहाँ इस भौतिक जगत को एक समुचित स्थान प्रदान किया गया था। याज्ञवल्क्य की दो-दो पत्नियाँ हैं, उनका आश्रम उस ज़माने के हिसाब से हर प्रकार की सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण है; अतः याज्ञवल्क्य को एक सम्यक् 'ज़ोरबा दि बुद्धा' कहा जा सकता है। सम्यक् इसलिए क्योंकि याज्ञवल्क्य इतनी बड़ी संपत्ति के मालिक होकर भी इसे आत्मज्ञान के पक्ष में त्यागने को तत्पर हैं अतः वे प्रारंभ से ही जानते हैं कि यद्यपि सांसारिक धन-संपत्ति का मनुष्य के जीवन में एक उचित स्थान है, लेकिन इसका मनुष्य के वास्तविक आनंद से कोई लेना-देना नहीं है।

ओशो की 'ज़ोरबा दी बुद्धा' की अवधारणा में एक विरोधाभास है। वह विरोधाभास यह है कि अपनी पुस्तक 'समाजवाद से सावधान' में वे स्वयं कहते हैं कि संपत्ति श्रम से नहीं बल्कि बुद्धि से उत्पन्न होती है। और अपने प्रवचनों में वे बारंबार दोहराते हैं कि बुद्धत्व तर्क और शब्दातीत है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि एक ऐसी वस्तु जो बुद्धि से उत्पन्न होती है और एक ऐसी वस्तु जो बुद्धि के अतीत है, ओशो इन दोनों का समन्वय किस आधार पर कर रहे हैं? उन्हें सत्य में और बुद्धि में किसी न किसी प्रकार का संबंध स्थापित करना पड़ेगा तभी

'ज़ोरबा दि बुद्धा' की अवधारणा का कोई अर्थ होगा।

लेखक ने इस अध्याय की शुरुआत एक मज़ेदार अतार्किक बात से की है, जो कि 'ज़ोरबा दि बुद्धा' की अवधारणा का मूल है। इस घटना के अनुसार 25 दिसंबर,1988 की मध्यरात्रि को गौतम बुद्ध की आत्मा ने भगवान श्री रजनीश के शरीर में प्रवेश कर लिया और 26 दिसंबर के शाम के प्रवचन में ओशो ने घोषणा भी कर डाली कि आज से वे 'भगवान रजनीश' के नाम से नहीं बल्कि 'मैत्रेय दि बुद्धा' के नाम से जाने जाएँगे। लेकिन ओशो चार दिन भी 'मैत्रेय दि बुद्धा' नहीं रह पाए और 30 दिसंबर को ही घोषणा करते हैं कि उनकी संगति गौतम बुद्ध के साथ नहीं बैठ रही है, बुद्ध को मेरी विलासिता की जीवन शैली पसंद नहीं हैं और वे इसे त्याग नहीं सकते हैं, अतः वे 'गौतम दि बुद्धा' को जाने के लिए करते हैं और पुनः घोषणा करते हैं कि अब मेरा 'मैत्रेय दि बुद्धा' से कोई लेना-देना नहीं हैं अब से मैं 'श्री रजनीश ज़ोरबा दि बुद्धा' कहलाऊँगा।[29]

एक विशेष प्रकार की मौन और ध्यान की स्थिति को उपलब्ध करके भी ओशो रजनीश ने यही सबसे बड़ा ग़लत क़दम यह उठाया कि वे जीवन भर, निरंतर कुछ न कुछ बनने की कोशिश कर रहे थे। इस मामले में उन्होंने कभी कुछ नहीं सीखा, उनके प्रारंभ से लेकर अंत तक के प्रवचन आत्म-प्रवंचनाओं से भरे हुए हैं जो आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक दोनों ही दृष्टियों से एक दोष है। मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो जैसे उनके अंदर कोई कमी रह गई थी जिसे वे भरने की कोशिश कर रहे थे। एक दर्शन का विद्यार्थी इन समस्त बातों पर प्रश्नचिह्न लगाता है और उसी बात को अपने जीवन में उतारने का प्रयास करता है जो बुद्धिसंगत हो।

इसी अध्याय में संक्षिप्त में विज्ञान और धर्म के समन्वय की भी बात की गई है। लेकिन बाहर और भीतर की समृद्धि में जो विरोधाभास है वही विरोधाभास यहाँ भी दिखाया जा सकता है। इस समन्वय के बारे में भी जे. कृष्णमूर्ति का दृष्टिकोण अधिक संगत प्रतीत होता है क्योंकि ओशो जे. कृष्णमूर्ति की तरह यहाँ भी प्रदर्शित नहीं कर पाते हैं कि इन दोनों के समन्वय का मूल आधार क्या है? जे कृष्णमूर्ति अपने दर्शन में बताते हैं कि एक वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि और एक धार्मिक अंतर्दृष्टि में गुणात्मक रूप से कोई भेद नहीं है। उनमें भेद केवल मात्रात्मक है। एक साहित्यकार की अंतर्दृष्टि, एक कलाकार की अंतर्दृष्टि, एक दार्शनिक की अंतर्दृष्टि और एक वैज्ञानिक की अंतर्दृष्टि आदि क्योंकि किसी एक विषयवस्तु से बँधी होती है, अतः हमेशा सीमित होती है लेकिन एक धार्मिक अंतर्दृष्टि असीमित होती है।[30] अतः एक धार्मिक अंतर्दृष्टि में वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि समाहित होती है लेकिन इसका उलटा सत्य नहीं है। एक धार्मिक मन ही विज्ञान का सही उपयोग कर सकता है लेकिन धर्म एक वैज्ञानिक मन के परे होता है। अतः

[29] देखिये, *ओशो : हाशिए पर मुखपृष्ठ* : 56-57.

[30] देखें, प्रो. पद्मनाभन कृष्णा (2015), ए ज्वेल ऑन ए सिल्वर प्लैटर, पिलग्रिम्स पब्लिशिंग, दुर्गा कुंड, वाराणसी : 58-59.

इन बातों की समझ की आवश्यकता है समन्वय की नहीं। एक वृहद् अर्थ में भौतिकता और चेतना का समन्वय है ही। रमण महर्षि ने भी कहा है कि जो जाग जाता है उसके लिए तो यह संसार ब्रह्म ही है। उपर्युक्त उदाहरण में, ओशो रजनीश की चेतना में, बुद्ध की चेतना और उनकी संपन्न जीवन शैली के मध्य जो द्वंद्व दिखलाई पड़ता है वह द्वंद्व भी अज्ञानजनित ही हो सकता है क्योंकि चेतना में द्वंद्व की उपस्थिति अज्ञान को ही दर्शाती है। अतः समस्या संसार और चेतना के समन्वय की नहीं है बल्कि इनकी समझ की है। चेतना संसार के भौतिक अस्तित्व को प्रेम करती है क्योंकि वेदांत के अनुसार यही संसार के आधार में है जबकि, मनुष्य का अज्ञानजनित संसार, जिसका प्रतीक ज़ोरबा है, वह कभी 'सत्य' को प्रेम नहीं कर सकता। इसीलिए ओशो के उपर्युक्त उदाहरण में ज़ोरबा के पक्ष में गौतम बुद्ध को जाना पड़ा।

अवधारणा खंड के दूसरे अध्याय का शीर्षक है – 'ओशो दर्शन में पुरुषार्थ विवेचन'। जिसमें लेखक ने बताया है कि पारंपरिक रूप से धर्म-पुरुषार्थ का अर्थ है – सदाचार, परंतु ओशो के दर्शन में धर्म का अर्थ है – आत्मज्ञान; यहाँ सदाचार को आत्मज्ञान की छाया और आत्मा का स्वरूप आनंद बताया गया है।[31] पुरुषार्थ की अवधारणा अनेक समकालीन दार्शनिकों यथा दयाकृष्ण, राजेंद्र प्रसाद और कमलाकर मिश्र आदि की दार्शनिक विवेचना का एक मुख्य विषय रहा है। लेकिन ओशो रजनीश इन अकादमिक दर्शनों से भिन्न प्रकार से इस अवधारणा पर विचार कर रहे हैं। दर्शन के विद्यार्थियों को इन सब बातों पर तार्किक संदेह करना चाहिए और प्रश्न उठाना चाहिए। प्रथम प्रश्न तो यह उत्पन्न होता है कि यदि धर्म का अर्थ सदाचार न होकर आत्म-ज्ञान है, और आत्म-ज्ञान का तात्पर्य अपने स्वरूप आनंद को जान लेना है तो फिर धर्म और मोक्ष तो समानार्थी हो गए। ये दो पुरुषार्थ न होकर एक पुरुषार्थ बन गए। दूसरी समस्या यह है कि सदाचार धर्म की एक मूर्त कसौटी है और आत्मज्ञान अमूर्त। ओशो रजनीश से पहले भारत में यह मूर्त कसौटी हज़ारों वर्षों से विद्यमान रही है कि हम एक व्यक्ति की आतंरिक दशा का अनुमान उसके सदाचरण से लगाते रहे हैं। आज भी भारत के सामूहिक मन में यह कसौटी विद्यमान है। हम गौतम बुद्ध के असदाचारी होने की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। धर्म की कसौटी सदाचार से हटाकर आत्मज्ञान जैसी अमूर्त आंतरिक चेतना की अवस्था बताने के ख़तरे हम आज भारतीय समाज में देख ही रहे हैं। आत्मज्ञान/मुक्ति/बुद्धत्व का तो कुछ पता नहीं है लेकिन आज सारे धर्मगुरु रॉल्स रॉयस की जीवन शैली की तरफ़ बढ़ रहे हैं।

लेखक के अनुसार ओशो के अर्थ-पुरुषार्थ संबंधी विचार न ही धन के अति भोग पर आश्रित है और न ही धन के त्याग पर।

---

[31] देखिए, *ओशो : हाशिए पर मुखपृष्ठ* : 68.

ओशो अपने अर्थ चिंतन में इन दोनों ही अतियों से बचते हुए संतुलन साधने का प्रयत्न करते हैं। हमें इस बात पर भी प्रश्नचिह्न लगाना चाहिए कि उनकी इस अति से बचने की परिभाषा क्या है? कितने रॉल्सरॉयस के संग्रह को अति कहा जाए? ओशो ने एक जगह गांधी जी के बारे में यह बात कही थी कि आमलोग छोटी-छोटी ग़लतियाँ करते हैं और महापुरुष बड़ी-बड़ी ग़लतियाँ करते हैं अतः हमें अपने महापुरुषों के आचरण की समीक्षा अवश्य करनी चाहिए। यह बात ओशो रजनीश पर गांधी जी से भी अधिक प्रयुक्त होती है। काम-पुरुषार्थ संबंधी वे बातें, जो समीक्षा का विषय हो सकती हैं, वे बातें फ्रायड के साथ तुलनात्मक अध्ययन में भी है, अतः उनकी समीक्षा वहीं करना उपयुक्त होगा।

अवधारणा खंड का अगला अध्याय है – ओशो का शिक्षा-दर्शन : संपूर्ण शिक्षा पद्धति का प्रस्ताव। ओशो के अनुसार शिक्षा मनुष्य को उसकी प्रकृति से तोड़ कर विकृतियों को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक ले जाने का कार्य कर रही है।[32] वर्तमान विकृत शिक्षा के जिन कारणों को इंगित किया गया है, वे हैं – महत्वाकांक्षा और प्रतियोगिता, आदर्शानुकरण और तुलना तथा बाह्यानुशासन। शिक्षा में विकृति के इन कारणों को पढ़ कर सबसे पहले यह बात ध्यान में आती है कि आश्चर्यजनक ढंग से यही बातें जे. कृष्णमूर्ति में भी प्राप्त होती हैं दोनों में अंतर केवल यह है कि ओशो में यह सब बातें कोई व्यवस्थित विचार न होकर हवा में लटकी प्रतीत होती हैं जबकि जे. कृष्णमूर्ति में शिक्षा में विकृति की यही कारणावली एक व्यवस्थित विचार की तरह प्राप्त होती है।[33]

यहाँ व्यवस्थित विचार का तात्पर्य तत्वमीमांसा अथवा ज्ञानमीमांसा में व्यवस्थित विचार से नहीं है। यहाँ व्यवस्थित और पूर्ण विचार का तात्पर्य है – किसी समस्या की नवीन, व्यवस्थित और पूर्ण छानबीन। यदि कोई व्यक्ति इस व्यवस्थित और पूर्ण विचार-प्रक्रिया को अपनी चेतना में वस्तु के रूप में रूपांतरित करके, समस्या को देख पाता है तो वह व्यक्ति उस समस्या से मुक्त हो जाता है। किसी भी समस्या की इस तरह की छानबीन ओशो रजनीश के चिंतन में देखने को नहीं मिलती है। इसीलिए उनके विचार और कर्म में भी एक बड़ा अंतराल दिखाई देता है। उदाहरण के लिए महत्वाकांक्षा की ही समस्या को ले लेते हैं। महत्वाकांक्षा का तात्पर्य है कि मनुष्य हमेशा मनोवैज्ञानिक रूप से (चेतना के धरातल पर) हमेशा कुछ बनना क्यों चाहता है? वह मनोवैज्ञानिक रूप से हमेशा एक कमी, एक अनजाना-सा डर क्यों महसूस करता है? जब व्यक्ति स्वयं इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने का प्रयास करता है तो आगे संदेह

---

32 देखिए, वहीं : 81.

33 देखिए, राजेश कुमार चौरसिया (2015), जे. कृष्णमूर्ति का शिक्षा दर्शन, मध्यभारती, पूर्व समीक्षित शोध पत्रिका, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्य प्रदेश, अंक 68, जनवरी-जून : 64-77.

उत्पन्न होता है कि अभी तक एक व्यक्ति जिस वस्तु को चेतना समझ रहा था (अपूर्ण और भय-युक्त चेतना), कहीं वे चेतना की अंतर्वस्तुएँ या चेतना में बाह्य-जगत की वासनामूलक छवियाँ तो नहीं हैं? इस प्रकार जो व्यक्ति स्वयं का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है उसे स्वयं के बारे में स्वयं से ही इस प्रकार के प्रश्न पूछने पड़ते हैं और इन प्रश्नों में ही इनका उत्तर छुपा होता है। यहाँ आत्मज्ञान के क्षेत्र में कभी उत्तर बाहर से नहीं आता है।

आश्चर्य है कि ओशो रजनीश जैसा बुद्धिमान व्यक्ति इस बात को नहीं समझ पाता है कि यदि आत्मा संबंधी अज्ञान स्वयं आत्मा उत्पन्न कर रही है (यह एक आंतरिक और व्यक्तिगत प्रक्रिया है) तो इस आत्म-अज्ञान को कोई 'भगवान', कोई 'गुरु' कैसे दूर कर सकता है? महत्वाकांक्षा की इसी नासमझी के कारण वे अपने व्यक्तिगत जीवन में भी हमेशा कुछ न कुछ बनने का प्रयास करते रहे। पहले 'आचार्य', फिर 'भगवान', फिर ' मैत्रेय दि बुद्धा' फिर 'ज़ोरबा दि बुद्धा', और अंत में ओशो। मुझे पूरा विश्वास है कि यदि वे कुछ और दिनों तक रहते तो हमें उनका कोई नया नाम सुनने को मिल सकता था। आज मुझे इस बात पर पूरा विश्वास है कि हमें यदि महत्वाकांक्षा, तुलना और प्रतियोगिता इत्यादि बातों को समझना हो तो हमें जे. कृष्णमूर्ति के माध्यम से समझने की कोशिश करनी चाहिए। हाँ, यदि आवश्यक लगे तो थेरेपी की तरह ओशो का ध्यान अवश्य करना चाहिए, जिन पर उन्होंने महत्त्वपूर्ण काम किया है, लेकिन उन्हें मन और शरीर को केवल रुग्णता से मुक्त करने के लिए ही करना चाहिए।

शिक्षा में उपर्युक्त निषेधात्मक पहलुओं के अतिरिक्त संक्षेप में लेखक ने शिक्षा-दर्शन के भावात्मक पक्षों की भी बात की है। जिसके अनुसार एक समग्र शिक्षा को मनुष्य के सभी पक्षों यथा शरीर, हृदय, मस्तिष्क और आत्मा सभी पक्षों पर ध्यान देना चाहिए, वर्त्तमान की शिक्षा व्यवस्था में एकांगी रूप से केवल मस्तिष्क को ही पोषित किया जा रहा है।[34] यह बात सत्य है कि एक सर्वांगीण शिक्षा में मनुष्य के सर्वांगीण विकास का अवसर मिलना ही चाहिए लेकिन ऐसा करने के लिए किन्हीं बातों को अनिवार्य नहीं किया जा सकता। जैसा कि लेखक की प्रस्तुति से ऐसा प्रतीत हो रहा है। अनिवार्यतापूर्वक नहीं बल्कि स्वतंत्रतापूर्वक ही एक सर्वांगीण शिक्षा की आधारशिला रखी जा सकती है। ओशो से भिन्न कृष्णमूर्ति का कहना है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था की कमी यह है कि यह अब तक केवल बाह्य वस्तु के ही ज्ञान पर, इसकी सूचनाओं पर ही आधारित है, इसमें आत्मज्ञान पर बिलकुल भी ज़ोर नहीं दिया जा रहा है। एक तरफ़ तो 'आत्मज्ञान' हमारे स्कूलों के पाठ्यक्रम का हिस्सा ही नहीं है तो दूसरी ओर विभिन्न विषयों की सूचनाओं को केवल रटने पर ही विद्यार्थियों का ज़ोर है, इन्हें समझने पर नहीं।

---

[34] देखिए, *ओशो : हाशिए पर मुखपृष्ठ* : 84.

यहाँ तक कि गणित और भौतिक विज्ञान की वास्तविक समझ आत्मज्ञान की ओर उन्मुख कर सकती है क्योंकि सब वस्तुएँ अंततोगत्वा हमसे संबंधित ही हैं। इन सब बातों का वास्तविक निदर्शन लेखक द्वारा प्रस्तुत ओशो का शिक्षा दर्शन नहीं करा पाता है। एक वास्तविक शिक्षा – दर्शन तीन मूलभूत प्रश्न पूछता है : 1) ज्ञान/सूचनाएँ क्या हैं और इनका हमारे जीवन में उचित स्थान क्या है? 2) प्रज्ञा क्या है?, और 3) इन दोनों का आपस में संबंध क्या है? इन तीनों प्रश्नों पर ओशो का शिक्षा दर्शन व्यवस्थित विमर्श प्रस्तुत नहीं कर पाता है अथवा यदि शिक्षा दर्शन के ये वास्तविक प्रश्न कहीं ओशो के विशाल वाङ्मय में उपस्थित है तो यह किताब इन प्रश्नों पर विमर्श नहीं कर पाती है।

अवधारणा खंड का ही अंतिम अध्याय है – 'ध्यान : ओशो दर्शन का व्यावहारिक उपक्रम'। इस अध्याय में संक्षिप्त में ही सही लेखक ने भारतीय दर्शन की वैदिक और अवैदिक दोनों ही परंपराओं में 'ध्यान' की उपस्थिति को दर्शाया है। पूरी किताब की यही एक सीमा है कि यह किताब किसी वस्तु का यथातथ्य वर्णन तो कर देती है लेकिन उस जानकारी का विश्लेषण और आलोचना करके समस्या के आधार तक जाने का प्रयत्न नहीं करती है। उदाहरण के लिए जब हम बौद्ध और वेदांत दर्शन में 'ध्यान' की बात कर रहे हैं और दोनों ही अगर 'ध्यान' का तात्पर्य मुख्य रूप से किसी विषय पर मन की एकाग्रता बता रहे हैं, तो यहाँ प्रश्न उठाना चाहिए कि ये बौद्ध और वेदांत दर्शन किस वस्तु पर एकाग्रता की बात कर रहे हैं? अद्वैत वेदांत के अनुसार तो यह बाह्य जगत मिथ्या है और ये किसी मिथ्या वस्तु पर तो ध्यान को एकाग्र करने की बात नहीं कर सकते हैं। हो सकता है कि यहाँ ध्यान वास्तविक/तात्त्विक वस्तु तक पहुँचाने का उपक्रम हो। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन तो किसी तात्विक वस्तु को भी नहीं मानता है, फिर वहाँ मन को किस वस्तु पर एकाग्र किया जा सकता है? यह सब बातें दार्शनिक शोध का विषय है और हमें लेखक के समान इस प्रकार के सरलीकरण से बचना चाहिए कि 'भारतीय परंपरा में ध्यान को मन की एकाग्रता माना गया है।'[35] हमें वैदिक और अवैदिक परंपरा से प्राप्त ध्यान संबंधी बातों का विश्लेषण करके यह ज्ञात करने का प्रयत्न करना चाहिए कि इन एक दूसरे से भिन्न परंपराओं में 'एकाग्रता' शब्द का तात्पर्य क्या है?

ओशो रजनीश ने ध्यान की विधियों के बारे में महत्त्वपूर्ण काम किया है। अगर एक व्यक्ति नियमित रूप से इन विधियों को करता है तो मन एवं शरीर को लौकिक अर्थों में स्वस्थ रखा जा सकता है। ओशो ने ध्यान की विधियों में मनोचिकित्सा की विधियाँ यथा कैथार्सिस और हँसने-रोने की क्रियाओं का अनूठे ढंग से प्रयोग किया है। 'सक्रिय ध्यान' और 'मिस्टिक रोज' नामक ध्यान विधियों में उन्होंने इन क्रियाओं का प्रयोग किया है, जो

[35] देखिए, वहीं : 93.

भारतीय परंपरा में एकदम नवीन है। इस विषय में उनके इन योगदानों के महत्त्व को रेखांकित करने वाले समीक्षात्मक शोधों की आवश्यकता है।

इस किताब में प्रस्तुत विचारों का अगर गंभीर अध्ययन किया जाए तो पता चलता है ओशो के द्वारा कथित ध्यान की अवधारणा भी भ्रमित करने वाली है। वे कहते हैं कि प्रार्थना, पूजा, उपासना, योग, सांख्य, भक्ति, कर्म, ज्ञान और संन्यास आदि सब ध्यान के ही रूप हैं क्योंकि ध्यान के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। अब उनकी इस बात पर केवल उनके भक्त लोग ही प्रश्न नहीं उठाएँगे क्योंकि वे वस्तुओं को अपनी भक्ति के कारण देख और समझ नहीं पाते हैं। भक्ति का संबंध भावना से है, कर्म का संबंध मन की संकल्प वृत्ति से है और ज्ञान का संबंध मन की ज्ञानात्मक वृत्ति से है। ओशो यहाँ, इन सभी को ध्यान का ही रूप कह रहे हैं और इस बात का कोई भी तर्क उपस्थित नहीं कर रहे हैं कि ज्ञान और कर्म जैसे एक-दूसरे की विरोधी वृत्तियाँ ध्यान कैसे हैं? अद्वैत वेदांत इनमें अंतर करता है और केवल ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की बात करता है और शेष दो को (भक्ति और कर्म) केवल इसमें एक सहयोगी की तरह ही देखता है।

इसी किताब में आगे ध्यान का अर्थ चित्त की मौन, निर्विचार और शुद्ध अवस्था बताया गया है और इसका संबंध वेदांत में वर्णित वाक् की चार अवस्थाओं से जोड़ा गया है। ओशो रजनीश के अनुसार ध्यान की वास्तविक अवस्था तक पहुँचने के लिए मन के चार तल – वैखरी, मध्यमा और पश्यंती को पार करना पड़ता है।[36] ओशो की इस बात पर एक दर्शन के विद्यार्थी को अनेक प्रश्न उठाने चाहिए। पहली बात तो उसे यह जानना चाहिए कि ओशो वेदांत के भिन्न संदर्भों में, मन की इन चार अवस्थाओं की बात कर रहे हैं। वेदांत अपने वाक् के इस सिद्धांत के द्वारा यह बताने की कोशिश कर रहा है कि साधारण, भौतिक और हत शब्द से परे अनाहत और अभौतिक शब्द ब्रह्म तत्त्व है। और ये दोनों आपस में संबंधित इस प्रकार हैं कि हमारे सारे भौतिक शब्द जब तक इस शब्द ब्रह्म से न संबंधित हों, वास्तविक नहीं हैं। वेदांत से भिन्न ओशो इन अवस्थाओं का उपयोग ध्यान की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए कर रहे हैं। जिसके परिणामस्वरूप, ध्यान एक मार्ग न होकर एक तत्त्व में परिवर्तित हो जाता है। दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि वास्तविक ध्यान तीनों अवस्थाओं के परे हैं तो वह वस्तु क्या है जो वैखरी तथा मध्यमा के मध्य और मध्यमा तथा पश्यंती के मध्य भेद कर पाती है? तीसरा प्रश्न हमें यह उठाना चाहिए कि यदि ध्यान और मन की निर्विचार अवस्था दोनों का तादात्म्य है तो जो ध्यान की विधियाँ ओशो ने ईजाद की हैं वे मनुष्य को यहाँ तक कैसे पहुँचाती हैं? यदि वास्तव में ध्यान एक देश और काल के परे की वस्तु है

[36] वहीं : 94-95.

तो मन और शरीर की कोई भी क्रिया हमें उस तक नहीं पहुँचा सकती है। इसीलिए अद्वैत वेदांत इसे केवल ज्ञान से गम्य मानता है कर्म से नहीं, और ज्ञान से भी उनका तात्पर्य वृत्ति ज्ञान से न होकर स्वरूप ज्ञान से है।

3. किताब का अंतिम खंड है – 'तुलना खंड'। इस खंड में ओशो रजनीश के विचारों की तुलना क्रमशः सिग्मंड फ्रायड, महर्षि अरविंद और जे. कृष्णमूर्ति से की गई है।

इस खंड का प्रथम अध्याय है – 'फ्रायड और ओशो के चिंतन में काम'। भारतीय दर्शन में 'काम' शब्द का प्रयोग मुख्यतः तीन अर्थों में किया जाता है। (1) इस शब्द का सबसे संकुचित अर्थ है – यौन/संभोग की इच्छा। (2) इसका द्वितीय और प्रथम से व्यापक अर्थ है – मनुष्य की कोई भी सांसारिक या आध्यात्मिक इच्छा। (3) तृतीय और सबसे अधिक व्यापक अर्थ है – अहम् मुक्त एक सामान्य ऊर्जा, जिसे शैव दर्शन 'शक्ति' कहता है और वेदांत में 'एकोऽहं बहुस्यामि' के रूप में ईश्वर इस प्रकार की इच्छा करता है। फ्रायड की सैद्धांतिक स्थिति तो एकदम स्पष्ट है; वह मनुष्य की प्रत्येक प्रकार की इच्छा को यौनेच्छा में घटा देता है, जो मनुष्य की अनेक इच्छाओं में से एक इच्छा है। ओशो की स्थिति इस बारे में भी एकदम स्पष्ट नहीं है। एक तरफ़ तो वे फ्रायड पर आधारित मनोविज्ञान को 'रुग्णों का मनोविज्ञान' कहते हैं क्योंकि एक रुग्ण व्यक्ति को ही जीवन के प्रत्येक विभाग में यौनेच्छा दिखलाई दे सकती है। दूसरी तरफ़ वे अनेक जगह फ्रायड की इस स्थिति का समर्थन भी करते प्रतीत होते हैं कि मनुष्य की प्रत्येक इच्छा वास्तव में अपने मूल में यौनेच्छा ही है। ओशो की काम संबंधी बातों का मूल आधार ही यही है तभी उन्होंने अपने दर्शन में यौनेच्छा को अनुचित और अविचारित महत्त्व दे रखा है। फ्रायड का मूल ही बुद्धों के मनोविज्ञान के हिसाब से सही नहीं है एक स्वस्थचित्त प्रज्ञापुरुष को जीवन की प्रत्येक गतिविधि में यौन नहीं दिखाई देता है। ओशो की काम संबंधी बातों का विरोधाभास यही है कि एक ओर तो वे फ्रायड के मनोविज्ञान के मूल आधार का समर्थन करते प्रतीत हो रहे हैं तो दूसरी ओर उसे रुग्णों का मनोविज्ञान भी कह रहे हैं।

एक बार किसी ने ओशो से पूछा कि सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि तंत्र का सरोकार यौन ऊर्जा से है, लेकिन विज्ञान भैरव तंत्र की एक सौ बारह विधियों में से केवल 2-3 विधियाँ ही क्यों यौन ऊर्जा के रूपांतरण के द्वारा ध्यान में प्रवेश करने की बात करती हैं? अधिकांश नहीं, इसका तात्पर्य तो ये हुआ कि तांत्रिक ध्यान विधियों का सरोकार केवल यौन ऊर्जा से नहीं है। इसी प्रश्न के उत्तर में ओशो जीवन की समस्त ऊर्जा को फ्रायड के समान यौन ऊर्जा के ही रूप बताते हैं और फ्रायड का समर्थन करते हैं।[37] ओशो की और फ्रायड की इस बात का समर्थन न ही वेदांत-दर्शन की परंपरा करेगी और न ही तंत्र-दर्शन

[37] देखें,भगवान श्री रजनीश (1980), *द बुक ऑफ़ सीक्रेट्स*, हार्पर कॉलिंस पब्लिशर्स इंडिया : 1016-1017.

की परंपरा। तंत्र-दर्शन की स्थिति यह है कि यह मानता है कि अनेक विधियों में से कुछ विधियाँ यौन ऊर्जा के रूपांतरण से भी संबंधित हैं। यह प्रतिज्ञप्ति (तर्कवाक्य) कि 'काम ऊर्जा जीवन ऊर्जा है' एक अलग प्रतिज्ञप्ति है और 'जीवन ऊर्जा का एक रूप काम ऊर्जा भी है' यह एक भिन्न अर्थ वाली प्रतिज्ञप्ति है। भारतीय दर्शन इस दूसरी प्रकार की प्रतिज्ञप्ति का ही समर्थन करता है।

लेखक ने पुस्तक में ओशो के काम संबंधी विचारों को अत्यंत मौलिक और अपूर्व बताया है क्यों कि फ़्रायड से भिन्न ओशो काम से अध्यात्म तक जाने का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।[38] इस मार्ग का पहला चरण है – जीवन में काम/यौन क्रिया की स्वीकृति। लेखक के अनुसार भारतीय दर्शन की पुरुषार्थ आदि अवधारणाओं में काम की स्वीकृति केवल सैद्धांतिक स्तर पर ही है, व्यावहारिक स्तर पर नहीं है।[39] परंतु लेखक इस बात पर विचार नहीं करता है कि दुनिया भर के अधिकांश धर्मों ने काम के विचार की आध्यात्मिक उन्नति के संदर्भ में निंदा क्यों की है? वह इसलिए क्योंकि काम/यौन निश्चित ही मनुष्य के जीवन की एक समस्या पहले भी थी और आज भी है। दर्शन के विद्यार्थी को इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि यौन हमारे जीवन में समस्याएँ क्यों उत्पन्न कर रहा है? और अगर हम ओशो रजनीश के परामर्श से यौन-क्रिया को जीवन की एक पवित्र वस्तु मान कर स्वीकार कर लें तो क्या मनुष्य की यौन-क्रिया संबंधी समस्याएँ समाप्त हो जाएँगी? आज की जो नई युवा पीढ़ी है वह पुरानी पीढ़ी की अपेक्षा यौन-क्रिया को अधिक सहज रूप से स्वीकार करती है। फिर इस नयी पीढ़ी में भी यौन-क्रिया संबंधी समस्याएँ क्यों हैं? मनुष्य के जीवन में न केवल यौन-क्रिया एक समस्या है बल्कि उसका पूरा जीवन ही एक समस्या है। हमारी जीविका, हमारा व्यापार एक समस्या है, हमारी राजनीति एक समस्या है, विवाह एक समस्या है, परिवार एक समस्या है इत्यादि; अतः हमें यह अधिक व्यापक और दार्शनिक प्रश्न पूछना चाहिए कि वह क्या वस्तु है जो हमारी जीवन की प्रत्येक गतिविधि को समस्या में परिवर्तित कर देती है? वास्तव में समस्या यौन-क्रिया में नहीं है बल्कि हमारे अहम् केंद्रित अंतर्द्वंद्व युक्त मन में है। पहले तो मन अहंकेंद्रित गतिविधियों से दुःख उत्पन्न करता है, और फिर वह इस उत्पन्न दुःख से पलायन का मार्ग भी खोजता है; और अपने दुखयुक्त मन को भुलाने का सबसे अधिक कारगर तरीक़ा यौन-क्रिया है।

एक अर्थ में यौन-क्रिया को समझने में जो ग़लती परंपरा कर रही है, ठीक वही ग़लती ओशो रजनीश भी कर रहे हैं। त्रुटि यह है कि दोनों ही यौन-कर्म को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बता रहे हैं। परंपरा इसे एक अपवित्र और धर्म का सबसे बड़ा शत्रु बता कर इस साधारण क्रिया को अत्यधिक महत्त्व प्रदान कर रही है। और ओशो इसे एक पवित्र और

[38] देखिए, *ओशो : हाशिए पर मुखपृष्ठ* : 111.

[39] वहीं.

धार्मिक वस्तु बना कर इसे वास्तव में अत्यंत महत्त्वपूर्ण बना रहे हैं। लेकिन वास्तविकता यह है कि न तो यह कोई पवित्र वस्तु है और न ही यह कोई अपवित्र वस्तु है। यौन-कर्म न ही कोई अपवित्र पाप है और न ही यह कोई समाधि का क्षणिक धार्मिक अनुभव है। यौन-क्रिया का एक उचित स्थान हमारे जीवन में है परंतु ये पवित्रता और अपवित्रता संबंधी विचार हमें इसे इसके वास्तविक स्वरूप को देखने में बाधा उत्पन्न कर देते हैं। अतः दर्शन के विद्यार्थी को ओशो के द्वारा यौन-कर्म के बारे में कही बातों पर प्रश्नचिह्न लगाना चाहिए, उनकी समीक्षा करनी चाहिए। वास्तव में समस्या का मूल यौन-क्रिया में न होकर यौन के विचार में है। अतः फिर चाहे हम यौन के बारे में एक पवित्र वस्तु की तरह विचार करें अथवा एक अपवित्र वस्तु की तरह; इसका विचार मनुष्य के जीवन में एक समस्या रहेगा। यौन-क्रिया मनुष्य में अतिरिक्त पशु जगत में भी है लेकिन वहाँ यह समस्या नहीं है क्योंकि वहाँ विचार की क्रिया ने इसे विकृत नहीं किया हुआ है। फ्रायड जिस रुग्ण मनुष्य का मनोविश्लेषण कर रहा है उसे हर जगह केवल यौन ही दिखलाई देता है क्योंकि इस मनुष्य में एक प्राकृतिक और सहज क्रिया को विचार ने पूरी तरह से विकृत कर दिया है। जैसी वस्तुएँ हैं उन्हें बिना किसी अहम् के व्यवधान के बिलकुल उनके अपने स्वरूप में देखना ही प्रज्ञा है। इस प्रकार के देखने में ही मुक्ति निहित है इसके परे जा कर ब्रह्मचर्य अथवा बुद्धत्व की कोई और अमूर्त अवस्था नहीं है, जिसे हमें ओशो जैसे किसी धर्मगुरु की सहायता से प्राप्त करना है।

इस खंड का अगला अध्याय है – 'अरविन्द और ओशो का नया मनुष्य : एक तुलनात्मक अध्ययन'। इस अध्याय में लेखक ने अरविन्द के नए मनुष्य की अवधारणा – 'प्रज्ञानी पुरुष'[40] एवं ओशो के नए मनुष्य – 'ज़ोरबा दि बुद्धा'[41] की अवधारणा का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया है। इसी किताब के अवधारणा खंड में 'ज़ोरबा दि बुद्धा' की अवधारणा पर एक पूरा अध्याय है वहाँ पर इस अवधारणा में निहित विरोधाभासों को दिखाने का प्रयास पहले ही किया जा चुका है। महर्षि अरविन्द और ओशो दोनों ही बहुत ही अलग-अलग प्रकार के दार्शनिक हैं। अरविन्द अपने नए मनुष्य की प्रेरणा उपनिषदों से ग्रहण कर रहे हैं और ओशो एक भारतीय समाज में व्याप्त ग़रीबी का कारण भारत की आध्यात्मिक जीवन-शैली को बता रहे हैं और स्वयं की जीवन-शैली में एक 'ज़ोरबा दि बुद्धा' की अवधारणा को एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं। जो काम अरविन्द कर रहे हैं वह ओशो नहीं कर रहे हैं और जो काम ओशो कर रहे हैं वह अरविन्द नहीं कर रहे हैं, ऐसी स्थिति में प्रथम प्रश्न तो यही उपस्थित होता है कि इन दोनों दार्शनिकों की तुलना का आधार क्या है? लेखक को लगता है कि

---

40 देखिये, *ओशो : हाशिए पर मुखपृष्ठ* : 124.

41 वहीं : 126.

तुलना का सेतु यह बनता है कि दोनों ही के दर्शन में भौतिक/जड़ वस्तु का निषेध नहीं है। अरविन्द तो इस प्रश्न पर एक प्राचीन उपनिषद् की ही बात का अनुपालन करने का प्रयास कर रहे हैं। *तैत्तिरीय उपनिषद्* कहता है कि प्राणमय अन्नमय की ही आत्मा है अतः प्राण में अन्न समाहित है इस प्रकार अरविन्द इस मामले में कोई नयी बात नहीं कह रहे हैं। उपनिषदों की आत्मा की अमरता के सिद्धांत का भौतिक वस्तु से कोई विरोध नहीं है, बल्कि ठीक इससे उल्टा है। एक भौतिक वस्तु की दिव्यता का पता एक आत्मज्ञानी को ही हो सकता है। मनुष्य की समस्या ही यही है कि उसे भौतिक वस्तु की दिव्यता का पता नहीं है और भारतीय परंपरा यही कह रही है कि आत्म-अज्ञान पूर्वक भौतिक वस्तुओं का संग्रह ठीक नहीं है।

इस खंड का और इस किताब का अंतिम अध्याय है – 'कृष्णमूर्ति और ओशो का धर्म-दर्शन : एक तुलनात्मक अध्ययन'। लेखक ने इस अध्याय में जे. कृष्णमूर्ति और ओशो रजनीश के दर्शन से जो धर्म की अवधारणा प्राप्त होती है उन अवधारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया है। लेखक को ऐसा लगता है कि दोनों ने ही क्योंकि एक ही सत्य का साक्षात्कार किया है इसलिए इनकी धर्म संबंधी अवधारणाओं में इतनी समानता है और जो भिन्नता हमें दिखलाई पड़ती है वह प्रस्तुति की है प्रस्ताव की नहीं है।[42] इस प्रकार दोनों व्यक्तित्वों की तुलना करने के प्रारंभिक बिंदु में ही लेखक एक बड़ी ग़लती कर देते हैं। वह ग़लती ये है कि ओशो तो बारंबार अनेकानेक विधियों से सत्य के साक्षात्कार का दावा करते हैं किंतु जे. कृष्णमूर्ति नहीं। उनके लिए सत्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका साक्षात्कार किया जा सके; बल्कि सत्य उनके लिए एक दैनंदिन जीवन में अभिज्ञता के साथ जीने का विषय है। मुझे यही बात जे. कृष्णमूर्ति की सबसे अधिक प्रिय लगती है कि वे अपने संवादों में अनेक बार कहते हैं कि 'मैं नहीं जानता, आइए मिलकर छानबीन करते हैं।' एक कहता है कि उसके पास केवल सही प्रश्न ही हैं उठाने के लिए और एक व्यक्ति यदि ठीक प्रकार से स्वयं के जीवन में इन प्रश्नों को उठाता है तो वह स्वयं ही इन प्रश्नों के उत्तर तलाश लेगा क्योंकि आत्म-ज्ञान के क्षेत्र में समस्या ही उत्तर भी होती है।[43] तो दूसरा कहता है कि उसके पास प्रश्न नहीं हैं केवल उत्तर हैं। एक को थिओसोफी जैसी प्रतिष्ठित वैश्विक संस्था पूर्व का बुद्ध और पश्चिम का मसीहा घोषित करती है और वह इस बात से इंकार करके कहता है कि मैं एक साधारण व्यक्ति हूँ। तो दूसरा अनेक नाम बदल-बदल कर, तरह-तरह के उपाय रचकर मसीहा/भगवान बनने की कोशिश कर रहा है। ओशो संगठित धर्मों की आलोचना तो अवश्य कर रहे हैं लेकिन साथ ही साथ एक

---

[42] वहीं : 130.

[43] देखें, जे. कृष्णामूर्ति (2008), *इन द प्रॉब्लम इज़ द सॉल्यूशन*, पब्लिश्ड बाई कृष्णामूर्ति फ़ाउंडेशन इंडिया, वसंत विहार, 124 ग्रीनवेज़ रोड, चेन्नई.

नया संगठित धर्म खड़ा करने की कोशिश कर रहे हैं लेकिन इसके विपरीत जे. कृष्णमूर्ति की कथनी-करनी में भेद नहीं है वे संगठित धर्मों की आलोचना करते हैं और कोई भी नया संगठित धर्म खड़ा करने का प्रयास नहीं करते हैं। दोनों व्यक्तित्वों के इस भेद को समझे बग़ैर इनको सही-सही समझना और इनकी तुलना करना संभव नहीं है।

दर्शन की सबसे बड़ी समस्या सत्य और वास्तविकता की समस्या है। जे. कृष्णमूर्ति के अनुसार सत्य वह है जिसे विचार कभी स्पर्श नहीं कर पाता है और वास्तविकता वह सब कुछ है जिसमें विचार सक्रिय हो सकता है, जिसे विचार बुन सकता है, जिस पर विचार-विमर्श कर सकता है। इस प्रकार सत्य और वास्तविकता के मध्य एक खाई है, एक अंतराल है और प्रज्ञा, अंतर्दृष्टि, और सजगता सत्य के वे उपक्रम हैं जो सत्य और वास्तविकता को संबंधित करते हैं। और एक विचार अथवा विचार से बनी हुई कोई भी वस्तु उसी स्थिति में एक भ्रम है जब वह सत्य से संबंधित न हो।[44] इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि किसी ध्यान विधि से विचार-शून्यता को प्राप्त नहीं करना है बल्कि प्रज्ञा-पूर्वक इन बातों को अपने दैनंदिन जीवन में समझना है। जे. कृष्णमूर्ति के लिए सारी वस्तुएँ यथा धर्म, प्रेम, प्रज्ञा आदि सत्य के ही विभिन्न आयाम हैं इसीलिए इनका कोई विपरीत नहीं होता है और जो व्यक्ति अपने दैनंदिन जीवन में सत्य की छाया में जीता है उसके जीवन में प्रेम और घृणा, क्रोध और करुणा, हिंसा और अहिंसा इत्यादि द्वंद्वों का अभाव होता है। जीवन में इस प्रकार के किसी भी द्वंद्व की उपस्थिति दर्शाती है कि मनुष्य सत्य से असंबंधित होकर पूर्णतः विचार के क्षेत्र में जी रहा है। इस कसौटी पर ओशो के जीवन और उनके दर्शन को कसने पर दिखलाई देता है कि दोनों द्वंद्वों से भरे हुए हैं।

उपरोक्त बातों को ध्यान में रखे बगैर जे. कृष्णमूर्ति और ओशो रजनीश के विचारों की तुलना नहीं की जा सकती है। जो बातें हमें सतही तौर पर समान दिखाई देती हैं वे भी गहराईपूर्वक विचार करने पर भिन्न दिखलाई देती है। उदाहरण के लिए दोनों ही दार्शनिक दुनिया के समस्त संगठित धर्मों की आलोचना करते हैं। लेकिन जब जे. कृष्णमूर्ति ऐसा करते हैं तो उसके पीछे उनकी एक दार्शनिक अंतर्दृष्टि है। वह अंतर्दृष्टि यह है कि सत्य एक पथहीन भूमि है।[45] जे. कृष्णमूर्ति ने कहा था कि उनकी बातों का सारांश इस छोटे से कथन में ही निहित है।[46] क्योंकि सत्य एक पथहीन भूमि है अतः इसका कोई गुरु, कोई संगठन इत्यादि नहीं हो सकते हैं। जो भी जे. कृष्णमूर्ति ने अनुबद्ध मन और अन-अनुबद्ध सत्य के बारे में कहा अथवा लिखा है वह सब उनके इस छोटे से कथन के साथ संगत है। वे इसीलिए संगठित धर्म और इसके समस्त प्रतीकों और कर्मकांडों की

[44] देखें, जे. कृष्णामूर्ति (1977), *ट्रुथ ऐंड ऐक्चुअलिटी*, कृष्णामूर्ति फ़ाउंडेशन इंडिया पब्लिकेशंस.

[45] *द ट्रुथ इज़ ए पाथले*, लैंड.

[46] देखें, https://jkrishnamurti.org/about-core-teachings.

आलोचना कर रहे हैं क्योंकि ये सब मनुष्य के विचार की उपज हैं और वे मानते हैं कि विचार जो भी रचता है वह पवित्र[47] नहीं हो सकता है और धर्म का संबंध पवित्रता के साथ है, ऐसी पवित्रता जिसे विचार छू भी नहीं सकता। इस प्रकार की दार्शनिक अंतर्दृष्टि का और दार्शनिक संगति का ओशो रजनीश में अभाव है।

ओशो रजनीश एक हाशिए के दार्शनिक हैं अथवा मुखपृष्ठ के अथवा वे कोई दार्शनिक हैं ही नहीं इस बात का निर्णय न ही उनके संबंध में किन्ही निंदासूचक कथनों के आधार पर किया जा सकता है और न ही प्रशंसामूलक। दार्शनिक कर्म परिश्रमपूर्वक, कष्टपूर्वक चिंतामणि तलाश करना है। ये चिंतामणि हमें अभिज्ञतापूर्वक की गई सम्यक आलोचना से प्राप्त होते हैं। निम्न कारणों से ये किताब ऐसा नहीं कर पाती है : (1) ये किताब ऐसे प्रशंसामूलक कथनों से भरी हुई है जो रजनीश के समर्थकों ने प्रतिक्रियास्वरूप कहे हैं। (2) इस किताब में ओशो रजनीश को परंपरागत तरीक़े से एक दार्शनिक के रूप में स्थापित करने की कोशिश की गई है जबकि वे एक आधुनिक युग के आधुनिक दार्शनिक हैं। (3) ओशो रजनीश के विशाल वाङ्मय में से ये किताब उनको दार्शनिक सिद्ध करने के लिए ग़लत विषयों का चयन करती है।

मेरा ऐसा विश्वास है कि ओशो रजनीश के विशाल वाङ्मय में दर्शन की अनेक संभावनाएँ छुपी हुई हैं। ओशो रजनीश ने कबीर आदि भारत की संत परंपरा पर विस्तृत व्याख्यान दिए हैं जिनका समीक्षात्मक और दार्शनिक अध्ययन किया जा सकता है। उन्होंने *गीता*, *धम्मपद*, *अष्टावक्र*, *उपनिषद्*, *नारद भक्तिसूत्र* आदि दार्शनिक ग्रंथों पर विस्तारपूर्वक व्याख्याएँ की हैं जिनका दार्शनिक मूल्यांकन आज तक नहीं हुआ है। इसी प्रकार पाइथागोरस, हेराक्लाइटस, नीत्शे, ख़लील जिब्रान, झेन, लाओत्सु आदि दुनिया भर के अनेक दार्शनिकों पर उन्होंने अपने व्याख्यान दिए हैं जिन पर गंभीर दार्शनिक कार्य किए जा सकते हैं। इसी प्रकार उन्होंने परंपरागत ध्यान की विधियों में आधुनिक मनोविज्ञान की अंतर्दृष्टियों को मिलकर अनेक मनोवैज्ञानिक थेरेपीज़ को जन्म दिया है, और उनका दार्शनिक मूल्यांकन किया जा सकता हैं। इस प्रकार भारत के इतने पढ़े-लिखे व्यक्ति के बौद्धिक वैभव का हमें लाभ उठाना चाहिए।

---

[47] सैक्रेड.